मेरी कहानियाँ

मुद्राराक्षस

दिशा प्रकाशन
13८/1६, त्रिनगर, दिल्ली-११० ०३५

मूल्य : बाईस रुपये
सर्वाधिकार : मुद्राराक्षस
प्रथम संस्करण : 1983
प्रकाशक : दिशा प्रकाशन, 138/16, त्रिनगर, दिल्ली-35
आवरण : पाली
रेखाचित्र : रणवीरसिंह बिष्ट
मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032

MEREE KAHANIYAN (Hindi Short Stories)
by Mudrarakshas
Rs. 22.00

डॉ० धर्मवीर भारती को

मेरी कथायात्रा

मेरी अपनी कहानी लेखन यात्रा अपने समय की लेखन यात्रा से उतनी ही अलग या उतनी ही एकरूप है जितनी मेरी जीवन यात्रा। बल्कि सही कहूँ तो मेरी कहानियों की शुरुआत उतनी ही अस्वाभाविक और नकली है जितनी मेरी जीवन यात्रा। यह यात्रा बहुत समतल भी नहीं है। अलग-अलग समय में अलग-अलग किस्म के प्रभाव लेकर मैंने कहानियाँ लिखी हैं।

मेरी कहानियों की शुरुआत खासी स्कूली अथवा प्रशिक्षणपरक है। शायद 1951 के अन्त में मैं लखनऊ में अमृतलाल नागर के संपर्क में आया। उस वक्त लिखने का कीड़ा लग चुका था। उन्हीं दिनों मैं लखनऊ में ही दर्शन के विद्वान् डॉ० देवराज से भी मिला। नागरजी कथाकार रहे हैं और डॉ० देवराज दार्शनिक के अलावा समीक्षक, कथाकार और कवि भी। लेकिन दोनों की सलाहें बहुत अलग थीं। डॉ० देवराज का सुझाव था कि मैं आलोचना लिखूँ, कथा-साहित्य नहीं और नागरजी की सलाह थी कि मैं आलोचना नहीं कथा-साहित्य लिखूँ।

उन्हीं दिनों महादेवी वर्मा ने एक तीसरी सलाह भी दी थी---मैं कविता लिखूँ, कथा या आलोचना नहीं।

मैंने तीनों की बात मान ली थी।

नागरजी का प्रिय विषय पुराने शहर के गली-कूचों की जिन्दगी रहा है। मैंने भी शुरू में उसी को केन्द्र बनाया। लेकिन नागरजी के गली-कूचों और मेरे अपने मुहल्ले में एक बुनियादी फर्क रहा है। जहाँ नागरजी का चौक एक अपेक्षाकृत पुरानी और परिष्कृत संस्कृति की पीठ पर फैला था

वहाँ मेरा मुहल्ला निम्नवर्ग की एक ऐसी बस्ती था जिसमें जिन्दगी तो थी, चेहरा नहीं था। इतिहास तो कुछ भी नहीं था। बल्कि वह मुहल्ला जाने कहाँ-कहाँ से आ जुटे बहुत-से निर्मूल परिवारों का खिचड़ी समूह भर था, जिसमें छोटी-मोटी नौकरी करने वाले लोग भी थे और अपेक्षाकृत समृद्ध व्यवसायी भी और ठेले जोतकर रोजी चलाने वाले लोग भी। बढ़ई भी, पुजारी भी, वैद्य भी और मास्टर भी। और ये सब एक-दूसरे से कटे हुए सिर्फ़ जरूरत के वक्त ही लड़ने या सहयोग करने के लिए एक-दूसरे से मुखातिब होते थे।

ऐसे समाज के बारे में लिखना बहुत रुचिकर नहीं होता जिसकी सामुदायिक संस्कृति कोई न हो। 'वे दिन भी कैसे उम्दा थे' वाला सुख इस मुहल्ले पर लिखकर नहीं मिल सकता था।

मैंने संभवतः तीन या चार कहानियाँ लिखीं। इनमें से कोई एक नागर जी द्वारा सम्पादित पत्र **प्रसाद** में छपी भी थी।

लेकिन इस बीच एक और घटना हो गई। नागरजी को मैं यह नहीं बताता था कि मैं आलोचना भी लिखता हूँ। इसी तरह डॉ० देवराज को मैं यह नहीं बताता था कि मैं कहानियाँ भी लिखता हूँ। डॉ० देवराज और कुँवर नारायण आदि ने मिलकर जो पत्रिका 'युगचेतना' निकाली उसके किसी शुरुआती अंक में मेरा एक आलोचनात्मक लेख छपा—प्रयोगवाद की प्रेरणा। यह लेख चूँकि तार सप्तक के कवियों पर तीखा हमला था इसलिए यह उपनाम 'मुद्राराक्षस' के अन्तर्गत छपा। नागरजी उस वक्त भी मुझे सुभाषचन्द्र नाम से ही जानते थे।

यह 'प्रयोगवाद की प्रेरणा' शीर्षक लेख न सिर्फ भारी विवाद का कारण बना बल्कि इसे देखकर श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने तत्कालीन साहित्यिक पत्र 'ज्ञानोदय' में सहायक-संपादक की नौकरी दिलवा दी।

पढ़ने के बाद क्या करूँगा, इसका कोई अन्दाज़ा न होने के कारण यह नौकरी मेरे लिए बहुत बड़ा और सुखद अवसर थी। एक भारी लोहे के सन्दूक में निम्न मध्यवर्गीय बेशऊरी का विज्ञापन करते बहुत-से कपड़े भरकर मैं कलकत्ता पहुँच गया।

यह ब्यौरा इसलिए आवश्यक है कि मेरे कथा लेखन का दूसरा मोड़

और दौर इसी घटना का परिणाम है। कलकत्ते में रहने की व्यवस्था लक्ष्मीचन्द्रजी ने अपने परिवार में की। जिस वर्ग से मैं वहाँ पहुँचा था उस वर्ग के आदमी को मोटर आतंकित करती है और रेफ्रिजरेटर चकित करने वाली मशीन होता है। बल्कि सच तो यह है कि तब मुझे पता ही नहीं था कि ऐसी कोई मशीन भी होती है।

मैंने राजमहल फिल्मों में देखा था। पहली बार शान्तिप्रसाद जैन का अलीपुर स्थित निवास देखने के बाद फिल्मों की स्मृति भी छोटी पड़ गई थी। कलकत्ते में ही पहली बार मैंने औपचारिक सूट पहना और उसके बाद कभी वह पहनकर वैसा मस्खरा दिखने की इच्छा नहीं हुई। कलकत्ते में महँगे भोजनालयों और शराबघरों ने सारा सोच बदल दिया।

लखनऊ विश्वविद्यालय में साथी जवाहरलाल श्रीवास्तव और रामभरोसे यादव के साथ बैठकर बनाए 'कम्युनिस्ट राज' में विराट 'अध्ययन संस्थान' के स्वामी होने की कल्पना पर गर्द जम गई। मैं प्रयोगधर्मी और स्त्री-पुरुष संबंधों का शहरी व्याख्याकार बन गया। अपना मुहल्ला मेरे लिए अप्रासंगिक ही नहीं पिछड़ा हुआ भी हो गया। मेरे अनुभवों और मेरी संवेदनाओं के सूत्र मीट्रो सिनेमा, एलीट के शराबघर और पार्कस्ट्रीट के एक रेस्त्राँ में सिमट गए।

इस बीच पूरी तरह नष्ट होने से बचने की जो थोड़ी गुंजाइश बनी रही उसके दो कारण थे। पहला यह कि—डॉ० देवराज का सूत्र बना रहा और दर्शन तथा समाजशास्त्र की पढ़ाई जारी रही, दूसरा यह कि मैंने तीन कथाकार बहुत रुचि से पढ़े अलग्ज़ान्द्र कुप्रिन, सआदत हसन मण्टो और कृश्नचन्दर। इन तीनों का एक साथ प्रभाव बहुत अच्छा नहीं होता। कुप्रिन भयावह यथार्थ का चित्रण करता है जबकि कृश्नचन्दर अच्छी गज़ल जैसी मोहक भाषा में पूरा काल्पनिक सत्य देता है। मण्टो बहुत बड़ा कहानीकार है और किसी बहुत बड़े रचनाकार का सीधा प्रभाव पड़ना बहुत खराब होता है। यही उन दिनों मेरे साथ हुआ। इन सबके सम्मिलित प्रभाव में मैं बीसवीं सदी में उन्नीसवीं सदी का प्रकृतिवादी बन गया। उन दिनों मुझे एक और आदमी ने प्रभावित किया—जैनेन्द्र कुमार। जैनेन्द्र के पास संयत भाषा की अद्वितीय सिद्धि है। लेकिन उनका प्रभाव ज्यादा नहीं

पड़ा।

उन दिनों मैंने 'नी' जैसी कहानी लिखी। 'हैंगर' और 'एग्जिमा' भी उसी क्रम और प्रभाव की कहानियाँ हैं। इसमें सड़न से साक्षात् की उत्कट इच्छा तो है लेकिन सड़न की जड़ की तरफ़ कोई भी इशारा वहाँ मौजूद नहीं मिलेगा।

हिन्दी में उस वक़्त शेखर जोशी, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, कमल जोशी और भीष्मसाहनी ने कहानियों में अपनी पहचान बना ली थी। उनके सामने मेरे ये प्रयत्न बहुत कम थे। बल्कि एक खास फ़र्क और था। मेरा बोध महानगरीय और किसी क़दर कल्पना प्रधान था। कमल जोशी और राजेन्द्र यादव आदि मध्यवर्गीय समाज के ज्यादा प्रामाणिक चित्र दे रहे थे।

जिस महानगरीय कल्पना जगत् में मैं तब था उसका अतिरेक उन्हीं दिनों उषा प्रियंवदा और निर्मल वर्मा में हुआ।

अत्यन्त रूमानी अज्ञेय जिस अपेक्षाकृत समृद्ध जीवन के रागात्मक चित्र दे रहे थे वे निम्न मध्यवर्ग के युवाजगत को काफ़ी विभोर करते थे। निर्मल की संवेदना बहुत हद तक अज्ञेय की रूमानियत का ही विस्तार थी। इसलिए निर्मल ने भी बड़े पैमाने पर लोगों को विभोर किया। मेरी मुश्किल यह थी कि मैं अज्ञेय हो जाना पसन्द नहीं करता था लेकिन कुप्रिन और मण्टो हो सकने की क्षमता भी नहीं थी।

तब मैंने कुछ अलग किस्म की कहानियाँ लिखने की कोशिश भी की थी। वस्तु की दृष्टि से उनमें ज्यादा कुछ नहीं था। बल्कि कह सकता हूँ असफल प्रेम और रागात्मक कुण्ठा उन कहानियों का मूल थी। लेकिन शिल्प की दृष्टि से वे बहुत अलग थीं।

यहाँ मैं यह बात ज़रूर कहना चाहूँगा कि हिन्दी में कहानी कमोबेश प्रेमचन्द के शिल्प से आगे नहीं बढ़ सकी। इस दिशा में उर्दू कहानी के व्यापक शिल्प प्रयोगों से हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं। मेरे मित्र बलराज मेनरा, सुरेन्द्र प्रकाश और पाकिस्तानी कथाकार इन्तज़ार हुसैन के जैसे साहसिक और व्यापक स्वीकृति पाने वाले प्रयोग हिन्दी में नहीं चल सकेंगे।

मैंने कहानियों में प्रयोग 'न चल पाने' के भय से नहीं छोड़े यह सच है लेकिन छोड़ ज़रूर दिए। छोड़ने के पीछे एक आदत रही है। अपनी किसी

भी रचना से मिलता-जुलता काम दुबारा करना रुचिकर नहीं लगता है। मुझे स्वयं अपने लेखन से ऊब बहुत जल्दी होती है। मेरे स्नेही आलोचक कहेंगे कि यह मेरे लेखन के खराब होने का सुबूत है। उन्हें सन्देह में डाले बिना मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि मेरा लेखन अच्छा नहीं है। यह स्वीकार करने में मेरा लाभ ज्यादा है। अपने-आपको नकारने में रचनात्मक उपलब्धि का रास्ता खुला रहता है।

कहानी ऐसी विधा नहीं है जिसपर स्वतन्त्र रूप से सैद्धान्तिक और रचना प्रक्रियागत बातें की जा सकें। कविता को लेकर की गई सैद्धान्तिक बातें ही कहानी का सत्य भी होती हैं। अधिक-से-अधिक हम कहानी के शिल्प पर बहस कर सकते हैं या फिर उन्हें लेकर व्यावहारिक समीक्षा लिखी जा सकती है। कहानी स्वयं हमें ऐसे कोई नतीजे अलग-से नहीं दे पाती जो रचना जगत् के लिए प्रासंगिक हों।

कुछ अर्ध-सैद्धान्तिक-सी बातें कहानी आन्दोलनों के नाम पर ज़रूर हुईं और इसे मैं अपना दुर्भाग्य (या सौभाग्य ?) मानता हूँ कि उनमें से किसी से भी मैं जुड़ नहीं पाया। 'नई कहानी' की परिभाषा के नाम पर बहुत लोगों ने, बहुत दिन, बहुत-कुछ लिखा। मुझे याद नहीं पड़ता कि उस बहुत-से लेखन में कहानी के या रचना के भाष्य में सहायक होने वाली एक भी स्पष्ट बात सामने आई हो। वे विचार ज्यादातर पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की परम्परा के 'आह-वाह वादी' रूमानी फिकरे भर थे। मुझे दो फिकरे ही याद रह गए हैं। एक भोगा हुआ यथार्थ और दूसरा—अँधेरे की चीख़। ये दोनों फिकरे हमें किसी नतीजे तक नहीं पहुँचाते, ये सिर्फ़ कहानी के प्रति हमारे रूमानी मोह को ही प्रमाणित करते हैं।

परवर्ती आन्दोलन मेरे विचार से नई कहानी की प्रतिक्रिया में पनपे। नई कहानी स्वयं उस समय तक लिखी गई बहुत अच्छी कहानी के बीच अपनी अलग पहचान बनाने की कोशिश थी। अलग घर बना लेने पर मिल्कियत का सुख जल्दी मिलता है।

परवर्ती आन्दोलन 'सचेतन कहानी' और 'समान्तर कहानी' के पीछे भी स्वतन्त्र मिल्कियत के सुख की चाह ही थी। उनके प्रतिष्ठाताओं ने कभी कोई गहरी सैद्धान्तिक व्याख्या पेश नहीं की।

कोई भी रचनात्मक प्रवृत्ति सार्वभौम घटना होती है। वह समूचे रचनाजगत् में प्रासंगिक होती है और उसे समग्रता में व्याख्यायित या प्रभावित भी करती है। इन आन्दोलनों में ऐसी कोई क्षमता या संभावना नहीं थी। हाँ 'अकहानी' ज़रूर एक बड़ी घटना हो सकती थी लेकिन इसके प्रतिष्ठाताओं को इसकी संभावनाओं का कुछ भी पता नहीं था।

1960 के अन्त में कलकत्ता छोड़कर दिल्ली आने के बाद मुझे एक तीखी अनुभूति हुई। कलकत्ता तो नहीं हाँ, बंगाल मेरे साथ ही दिल्ली आ गया था।

कलकत्ते के आखिरी दो साल मैंने जिस जगह बिताए वहाँ रह लेने पर यह होना अनिवार्य था। शायद किसी भी जगह गाँव का परिवेश बहुत गहराई से छूता है। कलकत्ते में टालीगंज के आगे, आदि गंगा के कृशकाय और घुमावदार बहाव को बाँसों के पुल से पार करने के बाद एक बस्ती आती थी नारियल, केले और लाल कनेर के घने दरख्तों में बिखरी हुई—पश्चिम पुटियारी। उसके पूरब में पूर्वपुटियारी थी जहाँ राजकमल चौधरी रहता था।

चौधरी नौकरी करता था और शहर से अपने को जोड़े रखता था। मैं मुक्त लेखन करता था और घर से बाहर न निकलने की अपनी आदत के अनुसार पुटियारी में ज्यादा वक़्त बिताता था। इससे आंचलिक बंगाल मेरे शरीर पर चिपकता रहा।

बंगाल की जिन्दगी ने उन दिनों इतनी शिद्दत से मुझे आकर्षित किया था कि अपने शहर की गली का सबकुछ धुँधला हो गया। बंगला मुहावरा तो अभी कोई सात-आठ बरस पहले तक मेरे गद्य की भाषा में छाया रहा। मेरा नाम तेरा नाम में आधा बंगाल ही है जिसे मैंने 1965 में शुरू किया था और लगभग 1976 में पूरा किया। कुछ कहानियाँ भी थीं जिनमें बंगाल था। जैसे 'संस्कार' या 'छन्दा'।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि बंगला साहित्य और कला ने भी मुझे खास प्रभावित किया। किसी समय शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय ज़रूर रुचे थे लेकिन बँगला में कविता, कहानी, उपन्यास में से कुछ भी मुझे रुचा नहीं। अपनी पसंद के बंगला साहित्य के कुछ बिरले 'उदाहरण' ही दे

सकूँगा जैसे 'पद्मा नदी का माँझी'। जिन दिनों कलकत्ते में था एकाध लेखकों से मिला भी था। मुझे वे लेखक के रूप में भी अच्छे नहीं लगे और आदमी के तौर पर भी। अक्सर ज्यादा सूजे हुए दिखे। यह सूजन मुझे देश की दूसरी किसी भी भाषा के लेखकों में नहीं दिखाई दी।

1960 के अन्त में दिल्ली आने पर सोच में एक और तीखा मोड़ आया। हालाँकि यह मोड़ भी कलकत्ते की मध्यवर्गीय कुण्ठा की तरह ज्यादा अरसे नहीं चला। कलकत्ते से मैं शोहरत कई गुनी बढ़ाकर आया था। इस शोहरत से मैं स्वयं छोटा था। मेरा यह विश्वास है कि युवावस्था में ही किसी लेखक के लिए शोहरत पा जाना घातक होता है। दिल्ली आने पर मैं भी किसी हद तक सूज गया। इस सूजन ने अजीब गुल खिलाए। रचनात्मक दृष्टि से गहराई की ओर जाने के बजाय मेरी आदत दूसरों को तंग करने की पड़ गई। बहुत-सी चीज़ें मैं सिर्फ़ इसलिए लिखता रहा कि उनसे लोग चौंक जाते थे। अक्सर लोग चिढ़ते भी थे। इस तरह सनकी और झक्की हो जाने का अपना एक मज़ा होता है लेकिन वह रचनात्मकता का शत्रु होता है।

कलकत्ते से आने पर औरत और शराब के प्रति कहानियों में उदार आग्रह काफ़ी दिन बना रहा। वह इसलिए भी कि उससे भी लोग तंग होते थे। लोगों को उलझन होती थी।

इसी माहौल में कुछ मित्रताएँ बढ़ीं, ऐसी मित्रताएँ जिन्होंने धीरे-धीरे सोच में बदलाव पैदा किया। मेरे मित्र बलदेव शर्मा और गौरीशंकर कपूर दिल्ली में पहली बार एक लम्बे अरसे के बाद वैसी अध्ययनपरक चुनौती बने जैसी चुनौती साहित्यिक जीवन की शुरुआत में लखनऊ में डॉक्टर देवराज, डॉ० हर्ष नारायण या डॉ० सत्यदेव बने थे।

लेखन की शुरुआत में एक बार मेरे विद्वान् मित्र डॉ० सत्यदेव या शायद डॉ० हर्ष नारायण ने आग्रह किया कि मैं स्वर्गीय एस० एन० निगम 'मुंशी' के घर पर हर शनिवार होने वाली बैठकों में भाग लूँ। बहुत दिनों गोष्ठियों में धमाके करने वाला मैं पहली ही बैठक में सहम गया था। वहाँ अर्थशास्त्र, दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र और विज्ञान के चुने अध्येता आते थे। अक्सर वे किताबों के सन्दर्भ इस तरह दिया करते थे गोया किताबें

साथ लिए बैठे हों। उस बीच, साहित्य में पढ़ने की परम्परा न के बराबर होने पर भी सिर्फ़ इसलिए पढ़ना ज़रूरी हो गया था कि उसके बिना उस समुदाय में बैठना कठिन था।

साहित्य में साहित्येतर कुछ पढ़ने की परम्परा लगभग नहीं के बराबर है। कलकत्ते में भी ऐसा कोई माहौल नहीं था। दिल्ली में बलदेव शर्मा और गौरीशंकर कपूर विचित्र प्राणी मिले जो साहित्य में तो दखल रखते ही थे, दुनिया की हर विधा पर साधिकार बात कर सकते थे। वे गणित और विज्ञान में भी पीछे नहीं थे। बल्कि बलदेव ने तो विज्ञान विश्वकोष जैसी चीज़ खरीद रखी थी।

इस मित्रता में एक बार फिर पढ़ने का सिलसिला शुरू हुआ। सिर्फ़ पढ़ने का सिलसिला ही नहीं शुरू हुआ बल्कि समाज की लड़ाई से सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं व्यावहारिक तौर पर भी जुड़ने का सिलसिला शुरू हुआ। इसी के साथ मेरी कहानियों के कथ्य में बुनियादी फर्क आया।

यहाँ एक बात ज़रूर कहने की इजाज़त चाहूँगा। इस दौर से पहले मेरी कहानियों के कथन को आप छोड़ दें, हाँ उनके शिल्प की प्रयोगधर्मिता का अपना एक अर्थ था और उस शिल्प के प्रति मेरा आग्रह समाप्त होना एक साहित्यिक दुर्घटना थी।

हिन्दी कहानी, जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, शिल्प की दृष्टि से प्रेमचन्द से ज्यादा आगे कभी नहीं बढ़ी। यही वजह है कि समग्र रूप से हिन्दी कहानी भी प्रेमचन्द से आगे नहीं बढ़ सकी।

यह भी रोचक सत्य है कि जहाँ कहानी ने शिल्प और कथ्य में प्रेमचन्द से कुछ अलग और विशिष्ट पहचान बनाई है वहाँ कहानी की अपनी जगह बहुत पुख्ता नहीं मानी गई। बल्कि ऐसी कहानी की उपेक्षा की गई है। हिन्दी में एक कहानी परम्परा उन लोगों की है जो मुख्यत: और मूलत: कथाकार ही हैं और दूसरी परम्परा उन कहानियों की है जिनके लेखक मूलत: ख्यात कवि हैं।

कहानियों की परम्परा में इस बात का अध्ययन किया जाना चाहिए कि कवियों द्वारा लिखी कहानियाँ कथाकारों की कहानियों से किस अर्थ में भिन्न हैं। जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ अपने समय की साधारण कहानियाँ

नहीं हैं। आज कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय आदि इस बात के उदाहरण हैं कि कवि कर्म में मूल प्रवृत्ति होने के साथ इन्होंने जो कहानियाँ लिखी हैं वे ज्ञानरंजन, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, अमरकान्त आदि की कहानियों से अलग हैं।

कहानियों का एक बिलकुल अलग स्वर, कभी सश्यिलिस्टिक और अक्सर मानवीय अस्तित्व पर संकट के तीव्र एहसास की कुछ कहानियाँ ऐसे लोगों ने लिखी हैं जिनके वैसा कर सकने पर शायद ही कोई शुबहा कर सके मसलन फिल्म पत्रकारिता में लगे ब्रजेश्वर मदान और प्रकाशनों से सम्बद्ध योगेश गुप्त। मैं यह मानता हूँ कि रमेश बक्षी ब्रजेश्वर मदान और योगेश गुप्त का अपभ्रंश हैं। अमर गोस्वामी ने भी कई बरस पहले कुछ ऐसी ही महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी थीं।

ये लोग कवि नहीं हैं लेकिन इनकी कहानियाँ विधाओं के इस विभाजन से ऊपर हैं और कविता जैसी ही एकान्त संवेदनशीलता प्रकट करती हैं।

ऊपर कुँवर नारायण और सर्वेश्वर आदि जिन कवि-कथाकारों का मैंने जिक्र किया उनकी कहानियों को बारीकी से देखने पर लगेगा कि इन रचनाकारों ने कहानी में कविता लिखने की कोशिश नहीं की है बल्कि कविता को पूरी तरह बाद देकर जो बचता है वह देने की कोशिश की है। कहा जा सकता है कि इन्होंने अच्छे कवि होने के कारण उस सबको सयत्न अलग रखने में सफलता पाई है जो किसी भी रचना को कविता बनाता है और इस तरह शुद्ध गद्य की खोज की है।

कहानी बहुधा अच्छी बनाने के चक्कर में एक कविता की सज्जा प्राप्त कर लेती है। मण्टो और हिन्दी में राजकमल चौधरी ग़ज़ल जैसी कहानी लिखते थे और कृश्न चन्दर नज़्म जैसी। निर्मल और अज्ञेय की कहानियाँ अच्छे गीत से भिन्न नहीं हैं। ज्यादा-से-ज्यादा वे किसी किशोर कवि की कविताएँ हो सकती हैं। अमरकान्त, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन, कामतानाथ आदिकी कहानियाँ कविता और गद्य के मिले-जुले प्रयोग हैं और गद्य में कविता की यह मिलावट काफ़ी खुले हाथों की गई है।

यहाँ यह न समझा जाय कि गद्य और पद्य की मिलावट से बनी कहानियाँ किसी अर्थ में खराब या नीचे के स्तर की कहानियाँ हैं।

जो भी हो मैं इस बात पर जोर ज़रूर देना चाहूँगा कि हिन्दी में अच्छे स्तर की कहानियों की पहचान भी नहीं हुई है, लिखी तो कम गई ही हैं।

मैंने खुद बहुत ज्यादा कहानियाँ नहीं लिखी हैं। कोई बहुत-सी कहानियाँ कैसे लिख लेता है यह सवाल हमेशा मुझे चकित करता है। कुछ लोगों ने तीन-चार सौ तक कहानियाँ लिखी हैं। यह मेरी सामर्थ्य से बाहर है। प्रायः डेढ़-दो बरस में एक कहानी लिखी गई है और इतने ही अन्तराल से नाटक और उपन्यास। नाटक, उपन्यास या कहानी में से कोई एक लिखने में मुझे डेढ़-दो साल लगता है। इसीलिए लगभग तैंतीस बरस के लेखन काल में कठिनाई से पच्चीस कहानियाँ (या शायद तीस) लिख सका हूँ।

कहानियों के बारे में इससे अधिक कुछ कहना यहाँ ठीक नहीं लग रहा। संग्रह में जो ग्यारह कहानियाँ यहाँ प्रकाशित हो रही हैं वे तीन दशक से ज्यादा लम्बे अरसे में लिखी कहानियों में से लगभग हर प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। उम्मीद है कि ये कहानियाँ मेरी कथा यात्रा के दौर का कुछ परिचय दे सकेंगी। इन कहानियों में वे भी हैं जो शुरू में मुहल्ले और छोटे शहर की जिन्दगी को लेकर लिखी गई थीं और वे भी हैं जो कलकत्ता जैसे महानगर के बीच चमत्कृत होकर लिखी गई थीं। कुछ कहानियाँ युद्ध संबंधी भी हैं। युद्ध कहानियों का विषय दो अर्थों में है। एक तो पात्रों की जटिल मनःस्थितियों के लिए भयावह परिवेश एक तरह के विश्लेषक का काम करता है, दूसरे युद्ध उन स्थितियों को भी रेखांकित करता है जिनमें सत्ता आदमी के हर मूल्य को छोटा कर देती है।

इन कहानियों में इस अर्थ में एक से ज्यादा तरह के युद्ध हैं।

मेरी ज्यादातर कहानियों का परिवेश संत्रास से बोझिल है। उनमें एक तरह की अतियथार्थवादी उलझन और दहशत है। इसका कोई कारण बता पाना सहज नहीं है, पर वह वहाँ है और सभी कहानियों में है। शेष बातें आप···!

सी-1200, इन्दिरा नगर,
लखनऊ (3000)

मुद्राराक्षस

साँची बोलो राजा

मौके यह भी बता सकता था कि ऐंठनियाँ पेचिश में किस चीज का फंका लगाना चाहिए। अगर हकीम न सही तो दशमूल के काढ़े का नुस्खा बाँध सकने वाला अत्तार वह ज़रूर था। और खाली अत्तार ही क्यों, बैद्यों के मंजन, चूरन और अंजन की डिबियाँ वह काफ़ी बेच लेता था। यहाँ तक कि डॉक्टर लोगों की टिंचर आयोडीन, बोरिक पाउडर और एडोफ़ार्म जैसी चीज़ें भी ग्राहकों की ज़रूरत पर प्रस्तुत करने के कारण उसे खासे कम्पाउण्डर का जोड़ीदार माना जा सकता था। औरतों के चौके का मसाला, बूढ़ों की बीमारियों की दवाएँ और चाटने का सत्तू तथा बच्चों के लिए मंघाराम के कारखाने वाले लेमनचूस; बात-बात में साले-बहनोई बनाने वाले पट्टेबाजों के लिए तौखिया पतंगे, पढ़ने-लिखने वालों के लिए कागज-कलम-पेंसिल, बाबुओं के लिए लिप्टन की 'बुकी चाय'—गरज़ कि हरिश्चन्द अपने में अकेले ही एक खासे अच्छे गड़बड़ झाला बाज़ार का काम दे जाता था।

दूकान में हरिश्चन्द के अलावा और कोई बैठ भी नहीं सकता था। सारा सामान गँजा पड़ा था; ज़रा चूके कि टाँग तेल के पीपे में जा घुसी, पीठ पर साबूदाने की हाँड़ी भदाके साथ आ गिरी, नकछेदों में बुहारी की सींके खुँस गईं, हाथ के पंजे में चौक का सुता हुआ पका मंझा उलझ पड़ा और काला खट्टेदार कनकौआ अंग्रेज़ी कालर की तरह गर्दन में आ पड़ा। मगर हरिश्चन्द ऐसा मौका कम ही आने देता था क्योंकि वह ऐसी सूरत में अपने बचाव की क़तई कोशिश नहीं करता था, क्योंकि इसी वजह से यह कयामत आती थी—भले ही वह आटे के पीपे से लदाबद होकर भूत

जो भी हो मैं इस बात पर जोर ज़रूर देना चाहूँगा कि हिन्दी में अच्छे स्तर की कहानियों की पहचान भी नहीं हुई है, लिखी तो कम गई ही हैं।

मैंने खुद बहुत ज्यादा कहानियाँ नहीं लिखी हैं। कोई बहुत-सी कहानियाँ कैसे लिख लेता है यह सवाल हमेशा मुझे चकित करता है। कुछ लोगों ने तीन-चार सौ तक कहानियाँ लिखी हैं। यह मेरी सामर्थ्य से बाहर है। प्रायः डेढ़-दो बरस में एक कहानी लिखी गई है और इतने ही अन्तराल से नाटक और उपन्यास। नाटक, उपन्यास या कहानी में से कोई एक लिखने में मुझे डेढ़-दो साल लगता है। इसीलिए लगभग तैंतीस बरस के लेखन काल में कठिनाई से पच्चीस कहानियाँ (या शायद तीस) लिख सका हूँ।

कहानियों के बारे में इससे अधिक कुछ कहना यहाँ ठीक नहीं लग रहा। संग्रह में जो ग्यारह कहानियाँ यहाँ प्रकाशित हो रही हैं वे तीन दशक से ज्यादा लम्बे अरसे में लिखी कहानियों में से लगभग हर प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। उम्मीद है कि ये कहानियाँ मेरी कथा यात्रा के दौर का कुछ परिचय दे सकेंगी। इन कहानियों में वे भी हैं जो शुरू में मुहल्ले और छोटे शहर की जिन्दगी को लेकर लिखी गई थीं और वे भी हैं जो कलकत्ता जैसे महानगर के बीच चमत्कृत होकर लिखी गई थीं। कुछ कहानियाँ युद्ध संबंधी भी हैं। युद्ध कहानियों का विषय दो अर्थों में है। एक तो पात्रों की जटिल मनःस्थितियों के लिए भयावह परिवेश एक तरह के विश्लेषक का काम करता है, दूसरे युद्ध उन स्थितियों को भी रेखांकित करता है जिनमें सत्ता आदमी के हर मूल्य को छोटा कर देती है।

इन कहानियों में इस अर्थ में एक से ज्यादा तरह के युद्ध हैं।

मेरी ज्यादातर कहानियों का परिवेश संत्रास से बोझिल है। उनमें एक तरह की अतियथार्थवादी उलझन और दहशत है। इसका कोई कारण बता पाना सहज नहीं है, पर वह वहाँ है और सभी कहानियों में है। शेष बातें आप···!

सी-1200, इन्दिरा नगर,
लखनऊ (3000)

मुद्राराक्षस

साँची बोलो राजा

मौके यह भी बता सकता था कि ऐंठनियाँ पेचिश में किस चीज का फंका लगाना चाहिए। अगर हकीम न सही तो दशमूल के काढ़े का नुस्खा बाँध सकने वाला अत्तार वह ज़रूर था। और खाली अत्तार ही क्यों, वैद्यों के मंजन, चूरन और अंजन की डिबियाँ वह काफ़ी बेच लेता था। यहाँ तक कि डॉक्टर लोगों की टिंचर आयोडीन, बोरिक पाउडर और एडोफ़ार्म जैसी चीज़ें भी ग्राहकों की ज़रूरत पर प्रस्तुत करने के कारण उसे खासे कम्पाउण्डर का जोड़ीदार माना जा सकता था। औरतों के चौके का मसाला, बूढ़ों की बीमारियों की दवाएँ और चाटने का सत्तू तथा बच्चों के लिए मंघाराम के कारखाने वाले लेमनचूस; बात-बात में साले-बहनोई बनाने वाले पट्टेबाजों के लिए तौखिया पतंगे, पढ़ने-लिखने वालों के लिए कागज-कलम-पेंसिल, बाबुओं के लिए लिप्टन की 'बुकी चाय'—गरज़ कि हरिश्चन्द अपने में अकेले ही एक खासे अच्छे गड़बड़ झाला बाज़ार का काम दे जाता था।

दूकान में हरिश्चन्द के अलावा और कोई बैठ भी नहीं सकता था। सारा सामान गँजा पड़ा था; ज़रा चूके कि टाँग तेल के पीपे में जा घुसी, पीठ पर साबूदाने की हाँड़ी भदाके साथ आ गिरी, नकछेदों में बुहारी की सींके खुँस गईं, हाथ के पंजे में चौक का सुता हुआ पका मंझा उलझ पड़ा और काला खट्टेदार कनकौआ अंग्रेज़ी कालर की तरह गर्दन में आ पड़ा। मगर हरिश्चन्द ऐसा मौका कम ही आने देता था क्योंकि वह ऐसी सूरत में अपने बचाव की क़तई कोशिश नहीं करता था, क्योंकि इसी वजह से यह कयामत आती थी—भले ही वह आटे के पीपे से लदाबद होकर भूत